ईशावास्य उपनिषद

मूल मंत्र और व्याख्या सहित

वेद मंतव्य E -पुस्तकालय
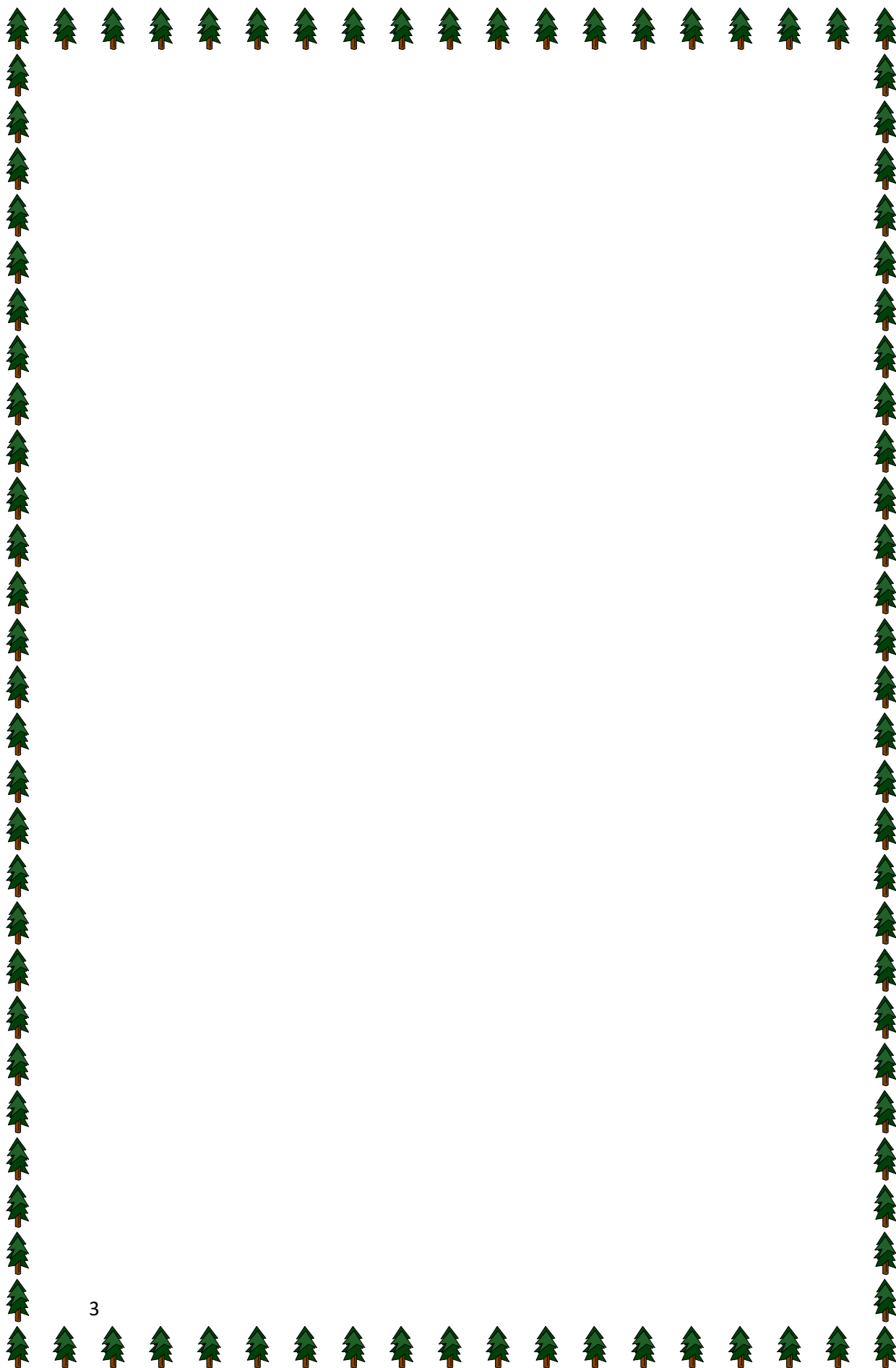
दो शब्द

वेदोऽखिलो धर्ममूलं अर्थात वेद ही समस्त धर्म का मूल हैं।

धर्म क्या है ? -करने योग्य कर्म

और अधर्म क्या है ? -न करने योग्य कर्म।

अब क्या करने योग्य है और क्या करने योग्य नहीं है,, इसका उपदेश वेद करते हैं।संसार की सभी किताबों ने झुंडवाद को बढ़ावा दिया कोई किताब मोमिन बनने पर जोर देती है तो कोई ईसाई बनने पर , वेद ही एकमात्र ऐसा ग्रन्थ है जिसने मनुष्य बनने पर जोर दिया - मनुर्भव।

जहाँ एक और मत मजहबों की किताबो ने लूट के धन को आपस में कैसे बांटना है, के फॉर्मूले उतारे वहीँ दूसरी और वेदों ने मा गृधः कस्यस्विद्धनम् अर्थात किसी का धन, किसी की स्वतंत्रता आदि हड़पने का विचार तक न रखने को कहा ।

ईशोपनिषद इन्ही वेदों का एक छोटा सा भाग है। ईशोपनिषद यजुर्वेद का चालीसवा अध्याय है। ईश शब्द से शुरू होने के कारण ही इसका नाम ईश-उपनिषद पड़ा है।
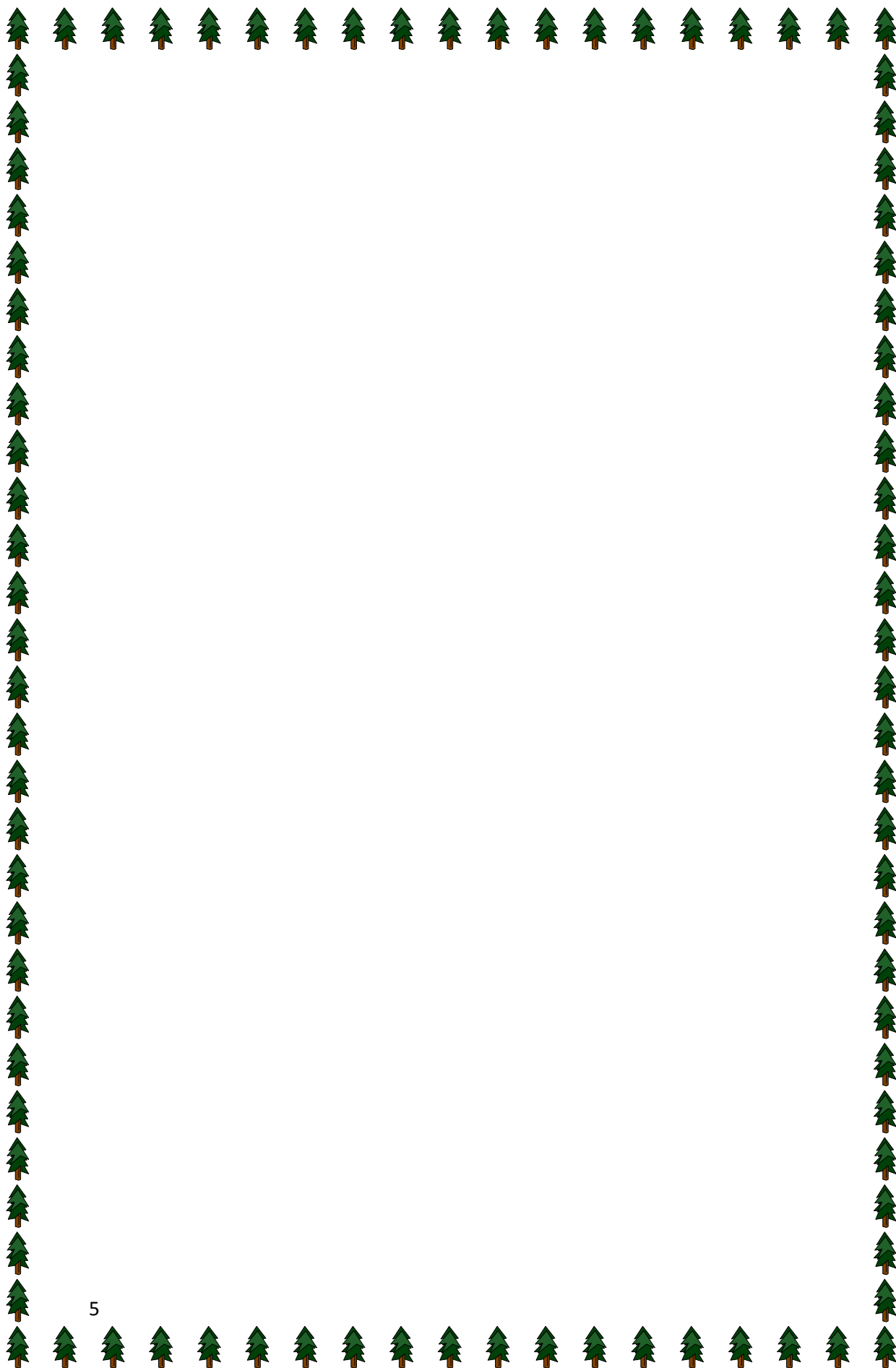
। ओउम् ।

ईशोपनिषद्

ईशा वास्यमिदँ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।

तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्॥ १॥

अर्थ -यह सब जो कुछ पृथ्वी आदि पर चराचर वस्तु है ईश्वर से आच्छादित है। उसी ईश्वर के दिये हुवे पदार्थो से भोग कर किसी के भी धन का लालच मत कर।

व्याख्या- *ईशा वास्यमिदँ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्* सरल शब्दों में इसका अर्थ यही है की ईश्वर कण कण में व्याप्त है ऐसी कोई जगह नहीं जहाँ ईश्वर न हो अतः मनुष्य को चाहिए कि न्यायपूर्वक जितना पदार्थ (धन,धान्य) आदि अर्जित हुआ है उसी से संतुष्ट रहे साथ ही पराये धन और उसके अधिकारों पर गिद्ध दृष्टि न रखे अर्थात दूसरों के धन और अधिकारों को छीनने का विचार तक न करे ।अब प्रश्न उठता है कि ईश्वर यदि कण कण में प्रत्येक स्थान पर व्याप्त है तो दिखता क्यों नहीं इस प्रश्न का उत्तर आगे के मन्त्र संख्या 4 की व्याख्या में मिल जायेगा ।

अखिल विश्व यह मम उपजाया सब पर मोंहि बराबरि दाया।
(रामचरितमानस)

भगवान श्रीराम कहते हैं की इस संसार के समस्त जीवधारी छोटी से छोटी चींटी से लेकर बड़े से बड़े हांथी,,,सीमित बुद्धि वाले जानवरों आदि से लेकर बुद्धिमान मनुष्य पर्यन्त सभी का शरीर हमारे द्वारा ही उतपन्न किया गया है अतः सभी से हमें बराबर स्नेह है अतः यह भी ज्ञात रहे कि इस वेदमन्त्र में सिर्फ

मनुष्य के अधिकारों की ही बात नहीं हो रही बल्कि समस्त जीवधारियों के अधिकारों की बात की जा रही है अतः जहां तक सम्भव हो मनुष्य को किसी भी जीव का अहित नहीं करना चाहिए।

इस सम्बन्ध में महर्षि वेदव्यास ने कहा है -

यदन्यविहितं नेच्छेदात्मनः कर्म पूरुषः ।
न तत्परेषु कुर्वीत जानन्नप्रियमात्मनः ॥

अर्थात -मनुष्य दूसरों द्वारा किये हुए जिस व्यवहार को अपने लिए उचित नहीं समझता, दूसरों के प्रति भी वह वैसा व्यवहार न करे। उसे यह जानना चाहिए कि जो बर्ताव अपने लिए अच्छा नही है, वह दूसरों के लिए भी अच्छा नहीं हो सकता

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतँ समाः।

एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥२॥

अर्थ -कर्मों को करता हुआ ही सौ वर्ष (या अधिक) जीने की इच्छा कर। इस प्रकार तुझ मनुष्य में कर्म लिप्त नही होता। इसके अतिरिक्त (कल्याण का) कोई अन्य मार्ग नहीं है।

व्याख्या-यह शरीर खेत के समान है जिसमें बोया गया भला या बुरा कर्मरूपी बीज संस्काररूप से सदैव उगता है।मनुष्य क्षण मात्र भी चेष्टा किये बिना नहीं रह सकता यानि मनुष्य सदैव मन ,वाणी,शरीर, इन्द्रियों आदि से चेष्टाएँ करता रहता है इन चेष्टाओं को कर्म कहते हैं उपरोक्त मन्त्र में ईश्वर ने मनुष्य को सत्कर्म करने का उपदेश किया है। मनुष्य को जीवन पर्यन्त अच्छे कर्मो को अधिकार समझकर करना चाहिए जिससे स्वयं के साथ साथ सबका कल्याण हो।

साधारण लोग अच्छे कर्म करते हैं पर उन्हें उस कर्मफल की चाह बनी रहती है वे अगले जन्म में धनाढ्य बनने की इच्छा से दान करते हैं,विद्वान बनने की इच्छा से ही अध्ययन करते हैं,परंतु जो योगी हैं वे यज्ञ,दान,विद्या का पठन पाठन आदि सत्कर्म तो करेंगे ही करेंगे लेकिन दान देने से स्वर्ग मिलेगा या नही मिलेगा?,,पढ़ने से विद्वता आएगी या नही आएगी ? इससे उन्हें कोई फर्क नही पड़ता क्योंकि योगी कर्तव्य पालन हेतु कर्म करता है और साधारण जन परिणाम की इच्छा से कर्म करते हैं।

जो परिणाम की इच्छा से कर्म करते हैं वे कर्म फल भोगने के कारण उसमें लिप्त होकर शंकराचार्य जी के अनुसार - पुनरपि जननं पुनरपि मरणं , पुनरपि जननी जठरे शयनं के चक्र में फंसे रहते हैं जो अच्छे कार्य कर्तव्य समझकर करते हैं जिन्हे सत्कर्मो के बदले कुछ चाहिए ही नहीं ऐसे महान विभूतियों को मोक्ष की प्राप्ति होती है उनका जन्म मरण का चक्र छूट जाता है क्युकी वे कर्मफल में लिप्त नहीं होते।

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः।

तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः।।३।।

अर्थ -जो कोई आत्मा के विरुद्ध आचरण करने वाले मनुष्य हैं,वे मर कर गहरे अंधेरे से आच्छादित हुए लोक योनियों को प्राप्त होते हैं।

व्याख्या-प्रत्येक जीवधारी एक आत्मा है आत्मा स्वभाव से शुद्ध और पवित्र है यह किसी भी प्रकार के ईर्ष्या द्वेषादि दोषों से लिप्त नही इसीलिए उपरोक्त मन्त्र में आत्म हनन अर्थात आत्मा के विरुद्ध कार्य को निषिद्ध ठहराया गया है।

मन्त्र में अंधकार अज्ञान को और प्रकाश ज्ञान को कहा गया है ।जो व्यक्ति आत्मा के विरुद्ध आचरण करते हैं,मरने के पश्चात अज्ञानरूपी अंधकार से युक्त स्थान विशेष पर जन्म को प्राप्त होते हैं।

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत्।

तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत् तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ।।४।।

अर्थ -वह ब्रह्म अचल ,एकरस,एक तथा मन से भी अधिक वेगवाला है क्योंकि सब जगह पहले से पहुँचा हुआ है।उस ब्रह्म की प्राप्ति इन्द्रियों से नही होती।वह अचल होने पर भी दौड़ते हुये अन्यों को उल्लंघन किये हुवे है।उस ब्रह्म के भीतर वायु जलों को मेघादि के रूप में धारण करता है।

व्याख्या-उपनिषद में बताया गया है की ईश्वर सदैव एकरस रहता है अर्थात उसमें कभी बदलाव या विकार नही आता उसके नियम उसका स्वभाव उसका ज्ञान सदैव एक जैसा रहता है कभी और किसी परिस्थिति में बदलता नहीं क्योंकि जो बदल जाए वो ईश्वर नहीं हो सकता उदाहरण के लिए ईश्वर ने वेदों में उपदेश किया **मनुर्भव** अर्थात मनुष्य बनो और **ईशावास्य इदं सर्वं** यानि ईश्वर सर्वत्र है अब आगे चलकर कोई कहे मनुष्य नहीं मुसलमान बनो और ईश्वर सब कहीं न होकर सातवे आसमान पर है ऐसा ईश्वर का सन्देश है और मैं ईश्वर का संदेशवाहक हूँ इस स्थिति में ऐसे ईश्वर और ऐसे संदेशवाहक दोनों को फर्जी समझा जाए। स्पष्ट शब्दों में यही तात्पर्य है इस वेद मन्त्र का इसी भाव को व्यक्त करने के लिए आगे ब्रह्म के इन्ही गुणों का वर्णन करते हुवे कहा गया है-

१-वह मन से भी अधिक वेगवाला है,क्योंकि वह प्रत्येक जगह पहले से ही विद्यमान है।इसीलिए वह सर्वदेशी है।

२-वह ब्रह्म इन्द्रियों से प्राप्त नही होता क्योंकि ज्ञात वस्तु जड़ और ज्ञाता चेतन है।उदाहरण के लिए मान लो हमारी निगाह चमकते सूर्य पर पड़ी,इस स्थिति में आंखें नही जानती उसे क्या दिखा? क्या दिखाई दिया? इसे जानने वाला आत्मा है। इससे स्पष्ट है आंखे देखतीं नही बल्कि दिखाने में सहायक होती हैं इसी प्रकार ईश्वर की प्राप्ति इन्द्रियों द्वारा नही होती बल्कि इंद्रियां ईश्वर प्राप्ति में सहायता करती हैं ।

अतः आँख,नाक,कान,मुंह,जीभ,त्वचा आदि इन्द्रियों से सिर्फ जड़ वस्तुओं को जाना जा सकता है चूंकि ईश्वर चेतन और निर्गुण निराकार हैं अतः इन्द्रियों से जानने योग्य नहीं है ,,,,हाँ इन्द्रियां ईश्वर को जानने में सहायक हो सकती हैं।

निर्गुण का अर्थ है जिसमें रूप,रस ,गंध,शब्द और स्पर्श का गुण न हो। हम और आप भी आत्मा ही हैं और इस आत्मा को सिर्फ आत्मा ही के द्वारा जाना जा सकता है जैसे- हाँथ मेरे हैं ,कान मेरे हैं,नाक मेरी है,मस्तिष्क मेरा है,गला,गर्दन,रक्त,मांस,मज्जा,हड्डियां सब मेरा है लेकिन मैं क्या हूँ ?? इसका उत्तर है मैं एक चेतना हूँ जिसके कारण ही इस पूरे शरीर का अस्तित्व है इस चेतना के बिना शरीर का कोई महत्व नहीं। इसी चेतना को आत्मा कहा जाता है जो न कभी उतपन्न हुई और न कभी नष्ट होगी बल्कि एक शरीर से दुसरे शरीर में तब तक शिफ्ट होती रहेगी जब तक मोक्ष न मिल जाए।
अतः एकाग्र होकर चिंतन करो आपने अपने पूरे शरीर का प्रत्यक्ष कर लिया है अर्थात अपने शरीर के एक एक अंग को देख लिया है पर कभी स्वयं को नहीं देख पाए और देख भी नहीं पाओगे क्युकी आप और क्या मैं सभी निर्गुण निराकार आत्मा हैं , जिसे देखा नहीं जा सकता बल्कि अनुभव मात्र किया जा सकता है और ऐसे ही ईश्वर का समझो ये जो कुछ भी चराचर है ये अनगिनत आकाशगंगाएं उनमें अनगिनत तारामंडल उसमें भी अनगिनत ग्रह और ग्रहों पर भी बड़े बड़े पहाड़,नदी,झरने आदि और जहाँ ये कुछ भी नहीं वहां आकाश (space) है इन्ही को ईश्वर का शरीर जैसा समझो और इस शरीररूपी संसार में जो चेतना है जिसके कारण छोटे से छोटा परमाणु और बड़े से बड़ा तारा भी गतिशील है जो चेतना समस्त संसार को नियमपूर्वक चला रही है वही ब्रह्म है ,,जिसकी प्राप्ति इन्द्रियों को नहीं होती इस ब्रह्म को इन्द्रियां नहीं जान सकतीं बल्कि इन्द्रियां, बुद्धि और तर्क इस ब्रह्म को जानने में हमारी मदद करते हैं।

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके ।

तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ॥ ५ ॥

अर्थ -वह ब्रह्म गति देता है परंतु स्वयं गति में नही आता।वह दूर भी है और समीप भी।वह इस सब के अंदर भी है और बाहर भी।

ईश्वर unmoved mover है। यह सम्पूर्ण संसार गतिशील है ग्रह ,तारे,आकाशगंगाओं से लेकर सूक्ष्म से सूक्ष्म परमाणु क़्वार्क और कोशिकाएं तक गतिशील है इस गति का कारण ब्रह्म है इसलिए ईश्वर को पाश्चात्य चिंतकों ने unmoved mover भी कहा है।

मूर्खों के लिए ईश्वर दूर है जबकि बुद्धिमान लोगों के लिए ईश्वर उसके साथ **हृदयकोषे तिष्ठति** यानि हृदयों में निवास करता है । जहाँ जहाँ ईश्वर की सत्ता है वहां वहां ईश्वर भी विद्यमान है ऐसी कोई जगह नहीं जहाँ ईश्वर विद्यमान नहीं,वह पदार्थो के अंदर भी है और बाहर भी है। जब हम कोई भी अनुचित कार्य कर रहे होते हैं तब अंदर से एक प्रेरणा आती है जो हमें उक्त कार्य को करने से रोकती है और धिक्कारती है की ये कार्य करने योग्य नहीं। यह अंतःप्रेरणा ईश्वर द्वारा ही दी जाती है यही उपयुक्त उदाहरण है की ईश्वर सदैव हमारे साथ है हर जीवधारी उसके रडार पर है । अतः जो बुद्धिमान होगा वह ईश्वर को इसी से अनुभव कर सदैव अपने साथ समझेगा इसीलिए ईश्वर को पास कहा गया , मूर्खों की दृष्टि में ईश्वर कहीं सातवें आसमान या बैकुंठ लोक आदि पर होता है इसी लिए ईश्वर को दूर कहा गया है। जो ईश्वर को हर जगह व्यापक मानकर सदैव अपने साथ मानता है वह गलत कर्म करने से परहेज करता है और ऐसे लोगो की ईश्वर सहायता भी करते हैं। वो कैसे ? इसका उत्तर महर्षि वेदव्यास देते हैं की-**न ईश्वर दण्डंमादाय रक्षन्ति पशुपालवत -----**.यानि ईश्वर ग्वालों की भांति डंडा लेकर किसी की सहायता नहीं करते बल्कि जो ईश्वर से

अपनपन जोड़ता है उसे उत्तम बुद्धि दे देते हैं ताकि वो स्वयं अपनी रक्षा कर सके।

यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येवानुपश्यति ।

सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ॥ ६ ।।

अर्थ -जो कोई सम्पूर्ण जगत को ईश्वर में देखता है और सम्पूर्ण जगत में ईश्वर को देखता है वह निंदित नही होता।

व्याख्या-जो मनुष्य सम्पूर्ण संसार को उस ब्रह्म के अंदर और ब्रह्म को सम्पूर्ण भूतों के अंदर देखता है वह घृणारहित हो जाता है क्योंकि जब ब्रह्म प्रत्येक प्राणी के अंतर्गत है तो प्रत्येक प्राणी के शरीर ईश्वर के मंदिर ही हुवे जिस कारण प्रत्येक प्राणी घृणारहित हो एक दूसरे से प्रेम करेगा ही।

यस्मिन्सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद्विजानतः ।

तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥ ७ ॥

अर्थ -जिस अवस्था में विशेष ज्ञान प्राप्त योगी की दृष्टि में सम्पूर्ण चराचर जगत परमात्मा ही हो जाता है उस अवस्था में ऐसे एकत्व देखने वाले को कहां मोह? और कहाँ शोक ?

व्याख्या-उपनिषद वाक्य एक अवस्था विशेष का संकेत करता है।वह अवस्था कौन सी है? यही प्रश्न है,जिस पर विचार करना है।

योग के अंगों में प्राणायाम के पश्चात पांचवे अंग से शरीर के भीतर इष्ट परिवर्तनों के करने का विधान है । मनुष्य की शक्ति अंतः और बाह्य कारणों में साधारणतया फैली हुई रहती है इसीलिए योगी के शिवाय कोई अन्य मनुष्य अपनी पूर्ण शक्ति को किसी काम में नही लगा सकता।

जब योगी अपनी सम्पूर्ण शक्ति को अपने भीतर एकत्र करना चाहता है तब यह उद्देश्य प्रत्याहार के अभ्यासों द्वारा पूरा किया जाता है।प्रत्याहार सम्पूर्ण शक्ति को केंद्रित करने की कार्यप्रणाली का ही नाम है।

प्रत्याहार द्वारा एकत्र शक्ति को किसी एक लक्ष्य पर लगा देने का नाम धारणा है और उसी एकत्रित शक्ति को किसी एक स्थान पर न लगाकर आत्मा में लगा देने का नाम ध्यान है,और इसी की उच्चावस्था को समाधि कहते हैं ।

ध्यान को समझने में आमतौर पर लोगों से गलती हो जाती है,निराकार ईश्वर के ध्यान की बात आते ही लोग कहने लगते हैं जिसकी कोई शक्ल नही,शूरत नही,रूप नही,तो भला उसका ध्यान कैसे किया जा सकता है?

ऐसे पुरुषों के मतानुसार ध्यान किसी बाह्य रूप रंग वाली वस्तु को भीतर हृदय में लाने का नाम है परन्तु बात इससे सर्वथा विपरीत है।

ध्यान बाहर से किसी वस्तु को भीतर लाने को नही कहते किंतु भीतर जो कुछ भी हो उस सब को निकालकर बाहर फेंक देने का नाम है।इसीलिए सांख्य दर्शन के आचार्य कपिल ने कहा है-"ध्यानं निर्विषयं मनः" अर्थात ध्यान मन को निर्विषय करने को कहते हैं।यही वह अवस्था है जिसका उपर्युक्त मन्त्र में उल्लेख है ।इस अवस्था को प्राप्त कर लेने ही से योगी एकत्व दर्शी हो जाता है।समस्त चराचर जगत में योगी ब्रह्म के शिवाय कुछ नही देखता।

यही वह अवस्था है जिसमें मनुष्य के मन में यह विचार उत्पन्न होता है कि सब जीव एक ही हैं और उसी जीवात्मा ने कर्मों का फल भोगने के लिये यह नाना प्रकार के रूपों को ग्रहण किया है, तो उसको अपने और अन्य पशुओं के बीच मे कोई भेद प्रतीत नही होता, उक्त दशा में न तो उसे कोई भ्रम ही उत्पन्न होता है न किसी को मित्र अथवा किसी को शत्रु ही मानता रहता है किन्तु वह सब संसार में एकता को ही अनुभव करता है ।ऐसे में एक श्रुति अवलोकनीय है-

एक बार एक साधु नदी में स्नान कर रहे थे अचानक उनकी दृष्टि एक डूबते बिच्छू पर पड़ी,उन्होंने उसे बचाने लिए प्रयत्न किया वो जितनी बार बिच्छू को पकड़ते बिच्छू उतने बार उन्हें डंक मारता।

यद्यपि बिच्छू बार बार डंक मार रहा था तथापि उस साधु ने उसे बचा लिया। क्योंकि साधु एकत्व में स्थिर था उसकी नजर में डूबने वाला बिच्छू नही बल्कि आत्मा था।

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम् ।

कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥ ८ ॥

अर्थ-वह ईश्वर सर्वत्र व्यापक है जगत उत्पादक,शरीर,शारीरिक विकाररहित,नाड़ी और नस के बंधन से रहित ,पवित्र,पाप से रहित ,सूक्ष्मदर्शी,ज्ञानी,सर्वोपरि,वर्तमान,स्वयंसिद्ध,अनादि,प्रजा के लिए ठीक ठीक कर्म फल का विधान करता है।

व्याख्या-इस मंत्र में ईश्वर के मुख्य गुणों पर प्रकाश डाला गया है वे इस प्रकार हैं-ईश्वर सर्वदेशी है, यह ईश्वर का पहला गुण है, जो ब्रह्म-विद्या के विद्यार्थी के हृदय में सब से पहले अंकित हो जाना चाहिए। बिना इस को समझे, बिना इस पर श्रद्धा और विश्वास किये, हम ब्रह्म-विद्या के स्वच्छ और उन्नत पथ की ओर कदम भी नहीं बढ़ा सकते।ईश्वर का दूसरा गुण एकत्व है, अर्थात् ईश्वर एक ही है।दूसरा, तीसरा, चौथा आदि नहीं, इस का उपासक को दृढ विश्वास होना चाहिए।

ईश्वर का तीसरा गुण 'शुक्रम्' अर्थात् जगत् का आदिमूल कारण होना है। ईश्वर का चौथा गुण 'शुद्धम्' है,अर्थात ईश्वर की शुद्धता को लक्ष्य में रखते हुए ईश्वर की समीपता प्राप्त करने के लिए उपासक को जल से शरीर, सत्य से मन, विद्या

और तप से आत्मा और निर्मल ज्ञान से बुद्धि को शुद्ध करना चाहिए, तभी वह ब्रह्म-विद्या का विद्यार्थी बन सकता है।

ईश्वर का पाँचवाँ गुण 'अपापविद्धम्' है। मनुष्य को भी निष्पाप बनने के लिए पाप के मूल विपरीत-मिथ्या-ज्ञान का बहिष्कार करना चाहिए। 'कवि' ईश्वर का छठा गुण है। कवि, क्रान्तदर्शी, सर्वद्रष्टा तथा सर्वज्ञ को कहते हैं।

'मनीषी' ईश्वर का सातवां गुण है, जो ईश्वर के पूर्ण ज्ञानी होने की घोषणा करता है।

ईश्वर का आठवाँ स्वयम्भू' गुण प्रकट करता है कि ईश्वर अपनी सत्ता से आप स्थिर है,वह किसी का मुंहताज नहीं।

'फलदाता' गुण ईश्वर ईश्वर का नवां गुण है। ईश्वर अनादि प्रजा जीव के कर्मों के फलों का 'याथातर्यत:' ठीक-ठीक विधान किया करता है।कर्म का फल न्यून या अधिक नहीं हो सकता।

अन्धतमः प्रविशन्ति ये अविद्यामुपासते ।

ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः ॥ ९ ॥

अर्थ - वे लोग घोर अंधकार को प्राप्त होते हैं जो अविद्या की उपासना करते हैं और इससे भी अधिक अंधकार को वे प्राप्त होते हैं जो विद्या में ही रत हैं।

अन्यदेवाहुर्विद्यया अन्यदाहुरविद्यया ।

इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥ १० ॥

अर्थ -ज्ञान का और ही फल कहते हैं,कर्म का और ही फल कहते हैं।ऐसा हम धीर पुरुषों से सुनते हैं,जिन्होंने हमारे लिए उपदेश किया।

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह ।

अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते।।११।।

अर्थ -जो ज्ञान और कर्म इन दोनों को साथ साथ जानता है वह कर्म से मृत्यु को तैर कर ज्ञान से अमरता को प्राप्त होता है।

व्याख्या- (मन्त्र ९,१०,११)

नवें मंत्र में कहा गया है की जो केवल कर्म का आश्रय लेते हैं वे अन्धकार में पड़ते ही हैं जबकि वे उनसे भी अधिक अन्धकार में पड़ते हैं जो केवल ज्ञान का आश्रय लेते हैं। इसका कारण यह है की ज्ञान मात्र का कोई फल नहीं मिलता जब तक उसे कर्म द्वारा कार्य रूप में न लाया जाय और जब तक ज्ञान नहीं तब तक उचित कर्म भी नहीं किया जा सकता इसीलिए उपनिषद ने ग्यारहवें मंत्र तक आते आते पूर्णतः स्पष्ट कर दिया की जो ज्ञान और कर्म दोनों का संतुलित रूप से साथ साथ सेवन करता हैं वह कर्म से मृत्यु को तैर कर ज्ञान से अमरता को प्राप्त होता है।यह बात कभी किसी अध्यात्म विद्या के विद्यार्थी को भूलनी नहीं चाहिए।अब कर्म और ज्ञान का क्षेत्र क्या होना चाहिए ? इसका वर्णन आगे के तीन मंत्रों में किया गया है।

इन मंत्रों में विद्या और अविद्या का महत्वपूर्ण सिद्धांत वर्णन किया गया है.....,ज्ञान को विद्या कहते हैं और अज्ञान को अविद्या। जहां अविद्या है वहां

अंधकार यानी दुख है महर्षि वेदव्यास के अनुसार **-"अविद्या नेत्री मूलंसर्वक्लेषानाम्।।"** अर्थात अविद्या समस्त दुखो का कारण है ।

महर्षि वेदव्यास का कथन है-

रागो देवस्तथा मोहो हर्षः कोकोऽभिमामिला।

कामः क्रोधश्च दर्पस्य तंद्रा च आलस्यमैव च

इच्छा द्वेस्तथा तापः प्रवृद्ध युपतापिता

अज्ञानमेताग्निदिपायानां चैव या किया: ॥

अर्थात राग (आसक्ति) द्वेष, मोह,हर्ष,शोक,अभिमान,काम,क्रोध,दर्प,तन्द्रा,आलस्य, वैर,दूसरों की उन्नति देखकर जलना और पाप में प्रवृत्त होना-ये सब अविद्या या अज्ञान है।

आत्मा के स्वाभाविक गुण ज्ञान और कर्म दो ही हैं । ज्ञान प्राप्त करके उसको कार्य रूप में परिणित करना ही मनुष्य जीवन का सबसे बड़ा उद्देश्य है।इसीलिए मन्त्र 9 में कहा गया है की केवल ज्ञान या केवल कर्म का सेवन करना अंधकार में पड़ना है।

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते ।

ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्यां रताः ॥ १२ ॥

अर्थ -घोर अंधकार में जाते हैं जो अनादि प्रकृति की ।उपासना करते हैं ।उनसे अधिकतर वे अन्धकार मे घुसे हुए हैं जो प्रकृति-जन्य कार्यों में लगे हुए हैं ।जो मनुष्य अज्ञानता से कारण (प्रकृति) को ईश्वर समझकर उसकी उपासना से सुख की इच्छा करते है, वह बहुत ही अज्ञान के अन्धकार में फँसे हुए अपने आपको दुखी देखते है । यद्यपि दुःख – सुख जीवात्मा का धर्म्म नहीं, किन्तु मन का धर्म्म हैं, परन्तु अज्ञानी मनुष्य, जिनकी बुद्धि प्रकृति की उपासना से बिगड जाती है,

मन के धर्म्म अपने में अनुभव करने लगते है । प्रकृति के उपासक इतने अज्ञानी हो जाते हैं, कि उनको अपना ज्ञान भी नही रहता और वे मनुष्य जो प्रकृति को ईश्वर समझकर उसकी उपासना से सुख की इच्छा करते है, वह उनसे अधिक बुरी दशा में पहुँच जाते है । प्रश्न- कारण-प्रकृति के उपासक कौन मनुष्य है ?उत्तर- जितने नास्तिक मनुष्य, जो केवल प्रकृति से जगत् की उत्पत्ति मानते है, वह सब प्रकृति के उपासक हैं । उनको सांसारिक विषय-भोग के अतिरिक्त कोई काम अच्छा नहीं प्रतीत होता । वह आत्मा को प्रकृति के एक विशेष रचना का प्रभाव रूप समझते हैं, मानो उनको अपनी सत्ता का भी ज्ञान नही रहता ।

प्रश्न- कार्य-प्रकृति के उपासक कौन मनुष्य हैं ?उत्तर- मूर्त्ति-पूजक, धन-पूजक इत्यादि जितने मनुष्य हैं, वह सांसारिक वस्तुओं से सुख की इच्छा करते है, वह सब कार्य-प्रकृति के उपासक है । जो मनुष्य ईश्वर की उपासना करते है, वह किस निमित्त करते है, केवल आनन्द अर्थात् सुख की इच्छा से । प्रकृति सत है, जीवात्मा सत् चित् है, परमात्मा सत् चित् और आनंद है । जीव में आनन्द का अभाव हैं और उसे आनन्द की इच्छा रहती है, इस कारण वह आनन्द-स्वरूप परमात्मा की उपासना प्रेम से करता है । अब जो मनुष्य प्रकृति से उत्पन्न हुए द्रव्यों को सुख का साधन समझते है, वह वास्तव में धन को परमेश्वर समझते है, क्योंकि बिना सुख की इच्छा के मनुष्य किसी वस्तु की उपासना नही कर सकता और जिसकी उपासना यथार्थ सुख के लिये की जाय, वही ध्येय परमेश्वर है ।

अन्यदेवाहुः सम्भवादन्यदाहुरसम्भवात् । इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥ १३ ॥

अर्थ - कार्य जगत का और ही फल बताते हैं और कारण प्रकृति का और ही फल बताते हैं।ऐसा धीर पुरुष हमारे लिए निर्णय पूर्वक उपदेश कर गए हैं।

व्याख्या - जो मनुष्य कार्य-जगत् की उपासना करते हैं, उनको दुःख से मिला हुआ क्षणिक सुख कभी-कभी मिलता है, परन्तु दुःख सदैव के लिये नष्ट नही होता । वह मन्द-बुद्धि होकर जन्म-मरण के बन्धन-रूप संसार-सागर में डुबकियाँ खाता रहता है, विद्वान् लोग ऐसा कहते हैं । जो जड़-रूप कारण की उपासना करता है, वह प्रकृति मे डूब जाता है, ऐसा विद्वानों से हम सुनते आये है । सारांश यह है कि प्रत्येक मुक्ति के जिज्ञासु का कर्तव्य है कि विद्वानों से कार्य-जगत् और कारण की उपासना के परिमाणों को प्रथक्-प्रथक् ज्ञात करने का उद्योग करे और विद्वान् मनुष्य को उनको यथार्थ ज्ञान उत्पन्न करावे, जिससे वे मुक्ति के मार्ग को अनुभव करके उस पर चल सकें ।

सम्भूर्तिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयं सह ।

विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्यामृतमश्नुते ॥ १४ ॥

अर्थ -कार्य जगत् को और कारण जगत् को जो इन दोनों को जानता है वह कारण जगत् से मृत्यु को तर के कार्य जगत् से मोक्ष को प्राप्त होता है ।

व्याख्या-पिछले मन्त्र मे यह बतलाया गया है कि कार्य-जगत की उपासना से अमुक फल प्राप्त होता है कारण की उपासना से अमुक प्रकार का पहल प्राप्त होता है, तथा यह भी प्रकट हो गया कि दोनों उपासना से मुक्ति नही हो सकती, क्योंकि जीव को जिस आनन्द की आवश्यकता है, कार्य-कारण-रूप प्रकृति उससे रहित है । जिस वस्तु में जो गुण नही है, उसकी उपासना से वह गुण कैसे प्राप्त हो सकता है । जैसे किसी मनुष्य को गर्मी ने सताया हो और वह उससे बचने के लिये अग्नि की उपासना करे अर्थात् अग्नि के निकट बैठे, तो उसका ताप और बढ़ जायेगा, न कि किसी प्रकार कम होगा । जीव को अल्पज्ञता के कारण दुःख होता है और वह अज्ञानी उससे छूटने के लिए प्रकृति की उपासना करेगा तो उसका

ज्ञान बढने के प्रत्युत कम होकर और भी दुःख को बढ़ा देगा । अतः प्रकृति की उपासना से मुक्ति का निषेध करके अब मुक्ति कैसे होगी उसे बताते हैं । जो मनुष्य जन्म मरण के नियमों और उनके कारणों को भले प्रकार साथ-साथ जानता है अर्थात् इस बात को समझता है कि जन्म मरण शरीर की दशाएँ है और जो उत्पन्न होता है । उसका नाश होना आवश्यक है, अतः शरीर की आवश्यकताओं को जो अपने से प्रथक समझता है वह जन्म मरण के बन्धन के दुःख से छूट कर शरीर की विद्यमानता में ही मुक्ति की दशा को पहुँच जाता है (जीवनमुक्त हो जाता है)

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।

तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ।।१५।।

सत्य का मुख सुवर्ण के पात्र से ढका हुआ है । हे पूषन! उस सत्य धर्म के दिखाई देने के लिए तू उस आवरण को हटा दे।

व्याख्या-

संसार की चमक दमक वाली लुभावनी चीजें ही सुवर्ण पात्र हैं,जो मनुष्य को प्रलोभन में लाकर उसे सत्य पथ से विमुख कर दिया करते हैं,यही माया भी है क्योंकि इस संसार में जो कुछ भी लुभाने वाला या आसक्त करनेवाला है वो माया ही है माया के अधीन होने से मोह उतपन्न होता है और मोह से बुद्धि का नाश तथा बुद्धि के नाश से अविद्या और अविद्या ही दुख का कारण है।

इस कथन को और स्पष्ट करते हुवे स्वामी दयानंद लिखते हैं-"मनुष्य का आत्मा सत्य असत्य का जानने वाला है तथापि अपने प्रयोजन की सिद्धि, हठ, दुराग्रह और अविद्यादि दोषों से सत्य को छोड़ असत्य में झुक जाता है।"

मनुष्य क्यों चोरी करता है? धन के लालच से, मनुष्य क्यों किसी को ठगता है? धन के लालच से

सत्य से विमुख होने का कारण माया या लुभाने वाली वस्तुऐ ही हुआ करती हैं इसीलिए मन्त्र में प्रार्थना की गयी है की हे पालन करनेवाले ईश्वर इस माया अथवा प्रलोभन रूपी आवरण सत्य से उठ जाये जिससे सत्यता हमसे और हम सत्यता से प्रथक न हों।

पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजापत्य व्यूह रश्मीन् समूह तेजः।

यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि॥१६॥

अर्थ - हे सर्वपोषक अद्वितीय न्यायकारी प्रकाशस्वरूप प्रजापति ! ताप दूर कर सुखप्रद तेज को प्राप्त करा,जो आपका अत्यंत मंगलमय रूप है आपके उस रूप को देखता हूँ,इसलिए जो वह पुरुष (ईश्वर) है वह मैं हूँ।

व्याख्या-

मंत्र में सच्चिदानंद स्वरूप ईश्वर से ,सतचित्त जीव को सच्चिदानंद बना देने की याचना की गई है सतचित दो शब्दों से मिलकर बना है सत्य और चेतन आत्मा सत्य है यानि कभी इसका नाश नहीं होता और चेतन भी है यानि आत्मा में स्वयं का विवेक भी है परन्तु आत्मा आनंद में नहीं है बल्कि आनंद खोजता रहता है। आत्मा को आनंद की प्राप्ति का साधन भी इसी उपनिषद् में बताया गया है वह साधन है -ईश्वर के उन गुणों को ,जिनका विवरण मंत्र में है ,जीव को अपने में धारण करना चाहिए।

१.पूषन-मनुष्य को सब का पोषक होना चाहिए उसका हृदय इतना प्रेममय हो जाना चाहिए की किसी को भी दुखी न देख सके

२.एकर्षि -उसे उपासक श्रेणी में अपने गुण और कारण की दृष्टि से ,अद्वितीय होने के लिए यत्नवान होना चाहिए।

३. यम -उसे न्यायपथ का अचूक पथिक होंना चाहिए ,कभी अन्याय और अत्याचार का विचार भी उसके मन में नहीं आना चाहिए।

४. सूर्य -उसे अपने अंतःकरण को अज्ञान के अन्धकार से स्वच्छ रखना चाहिए तथा सत्य के प्रकाश से प्रकाशमय बनाने का यत्न करते रहना चाहिए।

५. प्रजापति-जिस प्रकार प्रजापति ,अपनी प्रजा की रक्षा किया करता है। उसी प्रकार का रक्षक बनने का उसे प्रयत्न करना चाहिए।

जब उपासक इन गुणों से संपन्न हो जाता है ,तब इस अवस्था में जीव को ब्रह्म के समान ही माना जाता है।इस प्रकार ब्रह्म पद को प्राप हुआ जीव सादि ब्रह्म है असली ब्रह्म तो अनादि ही है।

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मांतं शरीरम्।
ओ३म् क्रतो स्मर कृतं स्मर क्रतो स्मर कृतं स्मर।।१७।।

अर्थ -शरीरों में आने जाने वाला जीव अमर है परन्तु यह शरीर केवल भष्म पर्यन्त है ,इसलिए अंत समय में हे जीव! **ओ३म्** का स्मरण कर ,निर्बलता दूर करने के लिए स्मरण कर,अपने किये हुए का स्मरण कर।

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नमउक्तिं विधेम ॥

अर्थ -हे प्रकाशस्वरूप तेजस्वी ईश्वर ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए अच्छे मार्ग से हमको चलाइये आप हमारे सम्पूर्ण कर्मो को जानने वाले हैं हमको उलटे मार्ग पर चलने रूप पाप से बचाइए। इसलिए आपको हम बार बार नमस्कार करते हैं।

व्याख्या-

यह मन्त्र इस उपनिषद का अंतिम मंत्र है।

मन्त्र में उल्टे मार्ग पर चलने को पाप कहा गया है उस उल्टे पाप के मार्ग पर न चलकर सीधे पुण्य मार्ग का पथिक बनने के लिए ईश्वर के ही पथप्रदर्शकता की आवश्यकता होती है।वही आदि गुरु है,वही महान शिक्षक है।उसी का आश्रय लेने से बेड़ा पार हो सकता है।इसीलिए सबकुछ यत्न करने पर भी अंत में उसी ईश्वर का आश्रय लेना चाहिए।

।। इति ईशोपनिषद ।।